

प्रमाण-लक्षण-निरूपण में प्रमाणमीमांसा का अवदान

जैन न्याय का विकास

न्याय एवं प्रमाण-चर्चा के क्षेत्र में सामान्य रूप से जैन दार्शनिकों का और विशेष रूप से आचार्य हेमचन्द्र के ग्रन्थ प्रमाणमीमांसा का क्या अवदान है, यह जानने के लिये जैन न्याय के विकासक्रम को जानना आवश्यक है। यद्यपि जैनों का पञ्चज्ञान का सिद्धान्त पर्याप्त प्राचीन है और जैन विद्या के कुछ विद्वान उसे पार्श्व के युग तक ले जाते हैं, किन्तु जहाँ तक प्रमाण-विचार का क्षेत्र है, जैनों का प्रवेश नैयायिकों, मीमांसकों और बौद्धों के पश्चात् ही हुआ है। प्रमाण-चर्चा के प्रसंग में जैनों का प्रवेश चाहे परवर्ती हो, किन्तु इस कारण वे इस क्षेत्र में जो विशिष्ट अवदान दे सके हैं, वह हमारे लिये गौरव की वस्तु है।

इस क्षेत्र में परवर्ती होने का लाभ यह हुआ कि जैनों ने पक्ष और प्रति-पक्ष के सिद्धान्तों के गुण-दोषों का सम्यक् मूल्यांकन करके फिर अपने मन्तव्य को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह पक्ष और प्रतिपक्ष की तार्किक कमियों का परिमार्जन करते हुए एक व्यापक और समन्वयात्मक सिद्धान्त बन सके। पं० सुखलालजी के अनुसार जैन ज्ञान-मीमांसा ने मुख्यतः तीन युगों में अपने क्रमिक विकास को पूर्ण किया है — १. आगम युग, २. अनेकान्त स्थापन युग और ३. न्यायप्रमाण स्थापन युग। यहाँ हम इन युगों की विशिष्टताओं की चर्चा न करते हुए केवल इतना कहना चाहेंगे कि जैनों ने अपने अनेकान्त-सिद्धान्त को स्थिर करके फिर प्रमाण विचार के क्षेत्र में कदम रखा। उनके इस परवर्ती प्रवेश का एक लाभ तो यह हुआ कि पक्ष और प्रतिपक्ष का अध्ययन कर वे उन दोनों की कमियों और तार्किक असंगतियों को समझ सके तथा दूसरे पूर्व-विकसित उनकी अनेकान्त दृष्टि का लाभ यह हुआ कि वे उन दोनों के मध्य समन्वय स्थापित कर सके। उन्होंने पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच समन्वय स्थापित करने का जो प्रयास किया, उसी में उनका सिद्धान्त स्थिर हो गया और यही उनका इस क्षेत्र में विशिष्ट अवदान कहलाया। इस क्षेत्र में उनकी भूमिका सदैव एक तटस्थ न्यायाधीश की रही। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की समीक्षा के माध्यम से सदैव अपने को समृद्ध किया और जहाँ आवश्यक लगा, वहाँ अपनी पूर्व मान्यताओं को भी

संशोधित और परिमार्जित किया। चाहे सिद्धसेन हों या समन्तभद्र, अकलंक हों या विद्यानन्द, हरिभद्र हों या हेमचन्द्र, सभी ने अपने ग्रन्थों के निर्माण में जहाँ अपनी परम्परा के पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन किया, वहीं अन्य परम्परा के पक्ष और प्रतिपक्ष का भी गम्भीर अध्ययन किया। अतः जैन न्याय या प्रमाण-विचार स्थिर न रहकर गतिशील बना रहा। वह युग-युग में परिष्कृत, विकसित और समृद्ध होता रहा।

प्रमाणमीमांसा का उपजीव्य

आचार्य हेमचन्द्र का प्रमाणमीमांसा नामक यह ग्रन्थ भी इसी क्रम में हुए जैन न्याय के विकास का एक चरण है। प्रमाणमीमांसा एक अपूर्ण ग्रन्थ है। न तो मूल ग्रन्थ ही और न उसकी वृत्ति ही पूर्ण है। उपलब्ध मूल सूत्र १०० है और इन्हीं पर वृत्ति भी उपलब्ध है। इसका तात्पर्य यही है कि यह ग्रन्थ आचार्य हेमचन्द्र अपने जीवन-काल में पूर्ण नहीं कर सके थे। इसका फलित यह है कि उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम चरण में ही इस कृति का लेखन प्रारम्भ किया होगा। यह ग्रन्थ भी कणादसूत्र या वैशेषिकसूत्र, ब्रह्मसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र की तरह सूत्र-शैली का ग्रन्थ है, फिर भी इस ग्रन्थ की वर्गीकरण शैली भिन्न ही है। आचार्य की योजना इसे पाँच अध्यायों में समाप्त करने की थी और वे प्रत्येक अध्याय को दो-दो आह्निकों में विभक्त करना चाहते थे, किन्तु आज इसके मात्र दो अध्याय अपने दो-दो आह्निकों के साथ उपलब्ध हैं। अध्याय और आह्निक का यह विभाग क्रम इसके पूर्व अक्षपाद के न्याय सूत्रों एवं जैन परम्परा में अकलंक के ग्रन्थों में देखा जाता है। अपूर्ण होने पर भी इस ग्रन्थ की महत्ता व मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी हुई है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ के लेखन में अपनी परम्परा और अन्य दार्शनिक परम्पराओं के न्याय सम्बन्धी ग्रन्थों का पूरा अवलोकन किया है। पं० सुखलालजी के शब्दों में “आगमिक साहित्य के अतिविशाल खजाने के उपरान्त ‘तत्त्वार्थ’ से लेकर ‘स्याद्वादरत्नाकर’ तक के संस्कृत तार्किक जैन साहित्य की भी बहुत बड़ी राशि हेमचन्द्र के परिशीलन-पथ में आई, जिससे हेमचन्द्र का सर्वाङ्गीण सर्जक व्यक्तित्व सन्तुष्ट होने के बजाय एक ऐसे नए सर्जन की ओर प्रवृत्त हुआ, जो अब तक के जैन वाङ्मय में अपूर्व स्थान रख सके।”^१ वस्तुतः निर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, तत्त्वार्थ और उसका भाष्य जैसे आगमिक ग्रन्थ तथा सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, अकलंक, माणिक्यनन्दी और विद्यानन्द की प्रायः समग्र कृतियाँ इसकी उपादान सामग्री बनी हैं। पं० सुखलालजी की मान्यता है कि प्रभाचन्द्र के ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’, अनन्तवीर्य की ‘प्रमेयरत्नमाला’ और वादिदेव-सूरि के ‘स्याद्वादरत्नाकर’ का इसमें स्पष्ट उपयोग हुआ है। फिर भी उनकी दृष्टि

में अकलंक और माणिक्यनन्दी का मार्गानुगमन प्रधानतया देखा जाता है। इसी प्रकार बौद्ध और वैदिक परम्परा के वे सभी ग्रन्थ, जिनका उपयोग उनकी कृति की आधारभूत, पूर्वाचार्यों की जैन न्याय की कृतियों में हुआ है, स्वाभाविक रूप से उनकी कृति के आधार बने हैं। पुनः वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि बौद्ध परम्परा के दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट और शान्तरक्षित तथा वैदिक परम्परा के कणाद, भासर्वज्ञ, व्योमशिव, श्रीधर, अक्षपाद, वात्स्यायन, उद्योतकर, जयन्त, वाचस्पति मिश्र, शबर, प्रभाकर और कुमारिल की कृतियाँ उनके अध्ययन का विषय रही हैं।^१ वस्तुतः अपनी परम्परा के और प्रतिपक्षी बौद्ध एवं वैदिक परम्परा के इन विविध ग्रन्थों के अध्ययन के परिणामस्वरूप ही हेमचन्द्र जैन-न्याय के क्षेत्र में एक विशिष्ट कृति प्रदान कर सके। हेमचन्द्र को इस कृति की आवश्यकता क्यों अनुभूत हुई? जब उनके सामने अभयदेव का 'वादार्णव' और वादिदेव के 'स्याद्वादरत्नाकर' जैसे अपनी परम्परा के सर्वसंग्राहक ग्रन्थ उपस्थित थे, फिर उन्होंने यह ग्रन्थ क्यों रचा? इस सम्बन्ध में पं० सुखलालजी कहते हैं कि "यह सब हेमचन्द्र के सामने था, पर उन्हें मालूम हुआ कि न्याय-प्रमाण-विषयक (इस) साहित्य में कुछ भाग तो ऐसा है, जो अति महत्त्व का होते हुए भी एक-एक विषय की ही चर्चा करता या बहुत संक्षिप्त है। दूसरा (कुछ) भाग ऐसा है कि जो सर्व विषय संग्राही (तो है) पर वह उत्तरोत्तर इतना अधिक विस्तृत तथा शब्दक्लिष्ट है कि सर्वसाधारण के अभ्यास का विषय नहीं बन सकता। इस विचार से हेमचन्द्र ने एक ऐसा प्रमाण विषयक ग्रन्थ बनाना चाहा जो उनके समय तक चर्चित एक भी दार्शनिक विषय की चर्चा से खाली न रहे, फिर भी वह (सामान्य बुद्धि के पाठक के) पाठ्यक्रम योग्य मध्यम कद का हो। इसी दृष्टि में से 'प्रमाणमीमांसा' का जन्म हुआ।"^२

यह ठीक है कि प्रमाणमीमांसा सामान्य बौद्धिक स्तर के पाठकों के लिये मध्यम आकार का पाठ्यक्रम-योग्य ग्रन्थ है, किन्तु इससे उसके वैदुष्यपूर्ण और विशिष्ट होने में कोई आँच नहीं आती है। यद्यपि हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना में अपने एवं इतर परम्परा के पूर्वाचार्यों का उपयोग किया है, फिर भी इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र अपने स्वतन्त्र चिन्तन और प्रतिभा का उपयोग भी उन्होंने किया है। अतः इसकी मौलिकता को नकारा नहीं जा सकता है। इस ग्रन्थ की रचना में अनेक स्थलों पर हेमचन्द्र ने विषय को अपने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक सुसंगत ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और इसी कारण ग्रन्थ में यत्र-तत्र उनके वैदुष्य और स्वतन्त्र चिन्तन के दर्शन होते हैं, किन्तु उस सबकी चर्चा इस लघु निबन्ध में कर पाना सम्भव नहीं है। पं० सुखलालजी ने इस ग्रन्थ में

हेमचन्द्र के वैशिष्ट्य की चर्चा अपने भाषा-टिप्पणों में की है, जिन्हें वहाँ देखा जा सकता है।* यहाँ तो हम मात्र प्रमाण-निरूपण में हेमचन्द्र के प्रमाणमीमांसा के वैशिष्ट्य तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

प्रमाणमीमांसा में प्रमाणलक्षण

प्रमाणमीमांसा में हेमचन्द्र ने प्रमाण का लक्षण 'सम्यगर्थनिर्णयः' कह कर दिया है। यदि हम हेमचन्द्र द्वारा निरूपित इस प्रमाणलक्षण पर विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि यह प्रमाणलक्षण पूर्व में दिये गए प्रमाणलक्षणों से शाब्दिक दृष्टि से तो नितान्त भिन्न ही है। वस्तुतः शाब्दिक दृष्टि से इसमें न तो 'स्व-पर-प्रकाशत्व' की चर्चा है, न बाधविवर्जित या अविस्वादित्व की चर्चा है। जबकि पूर्व के सभी जैन आचार्यों ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में इन दोनों की चर्चा अवश्य की है। इसमें 'अपूर्वता' को भी प्रमाण के लक्षण के रूप में निरूपित नहीं किया गया है, जिसकी चर्चा कुछ दिग्म्बर जैनाचार्यों ने की है। न्यायावतार में प्रमाण के जो लक्षण निरूपित किये गए हैं, उसमें स्व-पर प्रकाशत्व और बाध-विवर्जित होना ये दोनों उसके आवश्यक लक्षण बताए गए हैं।* न्यायावतार की इस परिभाषा में बाधविवर्जित अविस्वादित्व का ही पर्याय है। जैन-परम्परा में यह लक्षण बौद्ध-परम्परा के प्रभाव से गृहीत हुआ है।* जिसे अष्टशती आदि ग्रन्थों में स्वीकार किया गया है।* इसी प्रकार मीमांसकों के प्रभाव से अनधिगतार्थक होना या अपूर्व होना भी जैन प्रमाण लक्षण में सन्निविष्ट हो गया। अकलंक और माणिक्यनन्दी ने इसे भी प्रमाण-लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।*

इस प्रकार जैन-परम्परा में हेमचन्द्र के पूर्व प्रमाण के चार लक्षण निर्धारित हो चुके थे —

१. स्व-प्रकाशक — 'स्व' की ज्ञानपर्याय का बोध,
२. पर-प्रकाशक — पदार्थ का बोध,
३. बाधविवर्जित या अविस्वादि एवं
४. अनधिगतार्थक या अपूर्व (सर्वथा नवीन) ।

इन चार लक्षणों में से 'अपूर्व' लक्षण का प्रतिपादन माणिक्यनन्दी के पश्चात् दिग्म्बर परम्परा में भी नहीं देखा जाता है। विद्यानन्द ने अकलंक और माणिक्यनन्दी की परम्परा से अलग होकर सिद्धसेन और समन्तभद्र के तीन ही लक्षण ग्रहण किये।* श्वेताम्बर परम्परा में किसी आचार्य ने प्रमाण का 'अपूर्व' लक्षण प्रतिपादित किया हो, ऐसा हमारे ध्यान में नहीं आता है। यद्यपि विद्यानन्द ने माणिक्यनन्दी के 'अपूर्व' लक्षण को महत्त्वपूर्ण नहीं माना, किन्तु उन्होंने

‘व्यवसायात्मकता’ को आवश्यक समझा। परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने भी विद्यानन्द का ही अनुसरण किया है। अभयदेव, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र सभी ने प्रमाण-लक्षण-निर्धारण में अपूर्व पद को आवश्यक नहीं माना है।

जैन-परम्परा में हेमचन्द्र तक प्रमाण की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उन्हें पं० सुखलालजी ने चार वर्गों में विभाजित किया है —

१. प्रथम वर्ग में स्वपर अवभास वाला सिद्धसेन (सिद्धर्षि ?^{१०}) और समन्तभद्र का लक्षण आता है। स्मरण रहे कि ये दोनों लक्षण बौद्धों एवं नैयायिकों के दृष्टिकोणों के समन्वय का फल है।

२. इस वर्ग में अकलंक और माणिक्यनन्दी की अनधिगत, अविस्वादि और अपूर्व लक्षण वाली परिभाषाएँ आती हैं। ये लक्षण स्पष्ट रूप से बौद्ध मीमांसकों के प्रभाव से आए हैं। ज्ञातव्य है कि न्यायावतार में ‘बाधविवर्जित’ रूप में अविस्वादित्व का लक्षण आ गया है।

३. तीसरे वर्ग में विद्यानन्द, अभयदेव, और वादिदेवसूरि के लक्षण वाली परिभाषाएँ आती हैं जो वस्तुतः सिद्धसेन (सिद्धर्षि ?) और समन्तभद्र के लक्षणों का शब्दान्तरण मात्र हैं और जिनमें अवभास पद के स्थान पर व्यवसाय या निर्णित पद रख दिया गया है।

४. चतुर्थ वर्ग में आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाण-लक्षण की परिभाषा आती है, जिसमें ‘स्व’ बाधविवर्जित, अनधिगत या अपूर्व आदि सभी पद हटाकर परिष्कार किया गया है।

यद्यपि यह ठीक है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में नयी शब्दावली का प्रयोग किया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने अपने पूर्व के जैनाचार्यों के प्रमाण-लक्षणों को पूरी तरह से छोड़ दिया है। यद्यपि इतना अवश्य है कि हेमचन्द्र ने दिगम्बराचार्य विद्यानन्द और श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और वादिदेवसूरि का अनुसरण करके अपने प्रमाणलक्षण में अपूर्व पद को स्थान नहीं दिया है। पं० सुखलालजी के शब्दों में उन्होंने ‘स्व’ पद, जो सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्यों की परिभाषा में था, निकाल दिया। अवभास, व्यवसाय आदि पदों को स्थान न देकर अभयदेव के निर्णित पद के स्थान पर निर्णय पद दाखिल किया^{११} और उमास्वाति, धर्मकीर्ति, भासर्वज्ञ आदि के ‘सम्यक्’ पद को अपनाकर ‘सम्य-गर्थनिर्णयः प्रमाणम्’ के रूप में अपना प्रमाणलक्षण प्रस्तुत किया। इस परिभाषा या प्रमाण-लक्षण में ‘सम्यक्’ पद किसी सीमा तक पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रयुक्त बाधविवर्जित या अविस्वादि का पर्याय माना जा सकता है। ‘अर्थ’ शब्द का प्रयोग जहाँ बौद्धों के विज्ञानवादी दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए प्रमाण के ‘पर’

अर्थात् वस्तु के अवबोधक होने का सूचक है जो जैनों के वस्तुवादी (Realistic) दृष्टिकोण का समर्थक भी है।

पुनः 'निर्णय' शब्द जहाँ एक ओर अवभास, व्यवसाय आदि का सूचक है, वहीं दूसरी ओर वह प्रकारान्तर से प्रमाण के 'स्वप्रकाशक' होने का भी सूचक है। इस प्रकार प्रमाण-लक्षण-निरूपण में अनधिगतार्थक या अपूर्वार्थग्राहक होना ही ऐसा लक्षण है, जिसका हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती श्वेताम्बर आचार्यों के समान परित्याग किया है। वस्तुतः स्मृति को प्रमाण मानने वाले जैनाचार्यों को यह लक्षण आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ। श्वेताम्बर परम्परा ने तो उसे कभी स्वीकार ही नहीं किया। दिगम्बर परम्परा में भी अकलंक और माणिक्यनन्दी के पश्चात् विद्यानन्द ने इसका परित्याग कर दिया। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पूर्वाचार्य के दृष्टिकोणों का सम्मान करते हुए और उनके प्रमाण-लक्षणों को सन्निविष्ट करते हुए प्रमाणमीमांसा में 'प्रमाण' की एक विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत की है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में 'स्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर स्वयं उन्होंने प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के चतुर्थ पद की स्वोपज्ञ टीका में दिया है, उन्होंने बताया है कि ज्ञान तो स्व-प्रकाश ही है, 'पर' का व्यावर्तक नहीं होने से लक्षण में इसका प्रवेश अनावश्यक है।^{११} पं० सुखलालजी के अनुसार ऐसा करके उन्होंने एक ओर अपने विचार-स्वातन्त्र्य को स्पष्ट किया वहीं दूसरी ओर पूर्वाचार्यों के मत का खण्डन न करके, 'स्व' पद के प्रयोग की उनकी दृष्टि दिखाकर उनके प्रति आदर भी व्यक्त किया। ज्ञान के स्वभावतः स्व-प्रकाशक होने से उन्होंने अपने प्रमाण-लक्षण में 'स्व' पद नहीं रखा।^{१२}

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण में 'अधिगत' या 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा? इसका उत्तर भी प्रमाणमीमांसा में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की चर्चा में मिल जाता है। भारतीय दर्शन में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य को लेकर दो दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। एक ओर न्याय-वैशेषिक और मीमांसकों के प्रभाकर एवं भाट्ट सम्प्रदाय काल-कलाभान सम्बन्धी कुछ सूक्ष्म मतभेदों को छोड़कर सामान्यतया धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं; दूसरी ओर बौद्ध परम्परा सामान्य-व्यक्ति (प्रमाता) के ज्ञान में सूक्ष्म काल-भेद का ग्रहण नहीं होने से धारावाहिक ज्ञान को अप्रमाण मानती है। यद्यपि कुमारिल भट्ट की परम्परा भी अपने प्रमाण-लक्षण में अपूर्व पद रखने के कारण सूक्ष्म काल-कला का भान मानकर ही उसमें प्रामाण्य का उपपादन करती है। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक अर्चट ने अपने हेतुबिन्दु की

टीका में सूक्ष्म-कला के भान के कारण योगियों के धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना है।^{१५}

जहाँ तक जैनों का प्रश्न है, सामान्यतया दिगम्बर आचार्यों ने अपने प्रमाण-लक्षण में 'अपूर्व' पद को स्थान दिया है, अतः उनके अनुसार धारावाहिक ज्ञान, जब क्षण भेदादि विशेष का बोध कराता हो और विशिष्ट प्रमाजनक हो तभी प्रमाण कहा है। इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य अपने प्रमाण-लक्षण में 'अपूर्व' पद नहीं रखते हैं और स्मृति के समान धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। श्वेताम्बर आचार्यों में हेमचन्द्र ने अपने प्रमाणलक्षण में 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर भी उनकी प्रमाणमीमांसा में मिल जाता है। आचार्य स्वयं ही स्वोपज्ञ टीका में इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की उद्धावना करके उत्तर देते हैं। प्रतिपक्ष का कथन है कि धारावाहिक स्मृति आदि ज्ञान अधिगतार्थक पूर्वार्थक हैं और इन्हें सामान्यतया अप्रमाण समझा जाता है। यदि तुम भी इन्हें अप्रमाण मानते हो तो (तुम्हारा) सम्यगर्थ निर्णयरूप लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है, अतः अनधिगत या अपूर्व पद रख कर उसका निरास क्यों नहीं करते हो? प्रतिपक्ष के इस प्रश्न का उत्तर आचार्य हेमचन्द्र ने धारावाहिक ज्ञान और स्मृति को प्रमाण मानकर ही दिया है।^{१६} क्योंकि यदि धारावाहिक ज्ञान और स्मृति प्रमाण है तो फिर प्रमाण के लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद निरर्थक हो जाता है। पं० सुखलालजी का कथन है कि "श्वेताम्बर आचार्यों में हेमचन्द्र की खास विशेषता यह है कि उन्होंने गृहीतग्राही और ग्रहीष्यमाणग्रही में समत्व दिखाकर सभी धारावाहिक ज्ञानों में प्रामाण्य का जो समर्थन किया है, वह विशिष्ट है।"^{१७} यही कारण है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद की उद्धावना नहीं की है।

वस्तुतः हेमचन्द्र के प्रमाण-लक्षण की यह अवधारणा हमें पाश्चात्य तर्कशास्त्र के सत्य के संवादिता सिद्धान्त का स्मरण करा देती है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में सत्यता-निर्धारण के तीन सिद्धान्त हैं — १ संवादिता सिद्धान्त, २. संगति सिद्धान्त और ३. उपयोगितावादी या अर्थक्रियावादी सिद्धान्त। उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों में हेमचन्द्र का सिद्धान्त अपने प्रमाण-लक्षण में अविश्वस्यता और अपूर्वता के लक्षण नहीं होने से तथा प्रमाण के सम्यगर्थ निर्णय के रूप में परिभाषित करने के कारण सत्य के संवादिता सिद्धान्त के निकट है। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में अपने पूर्वाचार्यों के मतों को समाहित करते हुए भी एक विशेषता प्रदान की है।

सन्दर्भ

१. प्रमाणमीमांसा, सम्पादक पं० सुखलालजी, प्रस्तावना, पृ० १६.

२. वही, पृ० १७.
३. वही, पृ० १६-१७.
४. वही, भाषा-टिप्पणानि, पृ० १-१४३ तक.
५. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं वाधविवर्जितम्। न्यायावतार, १.
६. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः। प्रमाणवार्तिक, २/१.
७. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्। अष्टशती/अष्टसहस्री, पृ० १७५.
८. (अ) अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। वही.
(ब) स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानं प्रमाणम्। परीक्षामुख, १/१.
९. प्रमाणमीमांसा (पं० सुखलालजी), भाषाटिप्पणानि, पृ० ७.
१०. ज्ञातव्य है कि प्रो० एम० ए० ढाकी के अनुसार 'न्यायावतार' सिद्धसेन की रचना नहीं है, जैसा कि पं० सुखलालजी ने मान लिया था, अपितु उनके अनुसार यह सिद्धर्षि की रचना है। देखें — M. A. Dhaky's Article "The Date and Author of *Nyāyāvatāra*, *Nirgrantha*, Shardaben Chimanbhai Educational Research Centre, Ahmedabad, Vol. 1, 1995, p. 39.
११. प्रमाण-मीमांसा (पं० सुखलालजी), भाषाटिप्पणानि, पृ० ७.
१२. वही (मूलग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीका), १/१/३, पृ० ४.
१३. वही, भाषाटिप्पणानि, पृ० ११.
१४. देखें, वही, पृ० १२-१३.
१५. वही (मूलग्रन्थ एवं स्वोपज्ञ टीका), १/१/४, पृ० ४-५.
१६. वही, भाषाटिप्पणानि, पृ० १४.

